श्रीकृष्णभक्तिकी उफनती दिव्य सरिता मीराँ
वाल्लभ तत्त्वदर्शन-धर्मसाधना और सांप्रदायिक इतिवृत्त का सन्दर्भ

१.''सब कुछ भगवान्‌से प्रकट हुवा है और सब कुछ भगवद्रूप है'' भगवान्‌के ऐसे माहात्म्यज्ञानके साथ जो भगवान्‌की श्रवण आदि नवधा साधनाभक्ति और फलरूपा प्रेमात्मिका भक्ति कर पाता हो उसे उत्तमाधिकारी जानना चाहिये. हृदयमें भगवत्प्रेम प्रकट न हो पाता हो फिरभी श्रवणादि नवधा साधनाभक्ति करनेवाला मध्यम कोटीका अधिकारी होता है. माहात्म्यज्ञानके बिना सप्रेम नवविध साधनरूपा भक्ति करनेवालेको भी मध्यम कोटीका ही अधिकारी जानना चाहिये. न माहात्म्यज्ञान और न भगवत्प्रेम फिरभी नवधा भक्तिकी क्रियामात्र निभानेवालेको आदिम कक्षाका अधिकारी मानना चाहिये. क्योंकि नवधा भक्तिरूप सत्कर्मके वश उसका केवल पापनाश हो पाता है और कुछ भावविकास हो नहीं पाता.

२.जीवात्माओंके विभिन्न स्वरूप अंग और क्रियाकलापोंवाली सृष्टिके प्रभेद यों जानने : भगवान्‌की इच्छा मात्र द्वारा अर्थात् मनके अनुरूप जीवात्माओंके भीतर संसारमें रचीपची रहनेवाली प्रवाही सृष्टि प्रकट होती है. श्रीहरिके वाणीरूप वेदोंके अनुसार वैदिक मर्यादाओंका अनुसरण करनेवाली मर्यादासृष्टि प्रकट होती है. भगवान्‌के भक्तानुग्रहार्थ प्रकट स्वरूपके अनुसार भगवद्‌भक्ति करनेवाली सृष्टि पुष्टिसृष्टि होती है. इन त्रिविध सृष्टिओंमें प्रकट होनेवाली जीवात्माओंको फलदान भी स्वयं भगवान्‌की इच्छाके अनुरूप होता है. यथा प्रवाही सृष्टिके जीवोंको भगवान् मनचाहा फल प्रदान करते हैं. वेदोंमें जिन कर्मोंके जैसे फल प्रतिपादित हुवे हैं, वैसे फल मर्यादाजीवोंको मिलते हैं. भगवान् स्वयंके साक्षात् स्वरूप द्वारा जैसा फल प्रदान करना चाहते हों वैसा फल पुष्टिजीवोंको भी प्रदान करते हैं. एकमात्र अद्वितीय भगवान्‌की ही, अनेक रूप धारण करनेकी, इच्छासे ऐसी तीन तरहकी सृष्टि और तीन तरहके फल मिलते हैं. अर्थात् स्वरूपगत एकताके बावजूद स्वयं भगवान्‌की त्रिविध इच्छाओंके कारण जीवसृष्टि त्रिविध बन जाती है... इस तरह सर्गभेदके बाद अब फलभेद भी जान लेना चाहिये : इस सृष्टिमें भगवान् अनेकविध गुण और स्वरूप के प्रभेदवश स्वयं भगवान् अनेकधा प्रकट होते हैं. हरेक रूपमें सृष्टिके उपादान कर्ता होनेकी तरह अनेकविध फलोंके रूपमें भी स्वयं भगवान् ही भूतलपर प्रकट होते हैं. अतः जो रूप भगवान्‌ने धारण किया हो अपने उस रूपके लिये वैसे फलरूप भी भगवान् ही बनते हैं.

(१.त.दी.नि.१।१०१-१०२, २.पु.प्र.म.८-१७)

(१.वाल्लभ तत्त्वदर्शन-धर्मसाधनाका सन्दर्भ)

यह वाल्लभ तत्त्वदर्शन महाप्रभु वल्लभाचार्यका मौलिक चिन्तन है, ऐसा न तो स्वयं महाप्रभुका दावा है और न भारतीय वेदान्तचिन्तनके इतिहासका भलीभांति विमर्श करनेपर ऐसी धारणा प्रामाणिक मानी जा सकती है. स्वयं महाप्रभु अपने आद्यग्रन्थ तत्त्वार्थदीपनिबन्धके उपसंहारमें श्रीमध्वाचार्यका एक वचन घोषित करते हैं ''अर्थो अयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव'' [१]. अर्थात् वेद रामायण महाभारत पंचरात्र ब्रह्मसूत्र में जो कुछ कहा गया है वही महाप्रभुने

भी स्फुट करना चाहा है. यह बात आर्ष शास्त्रों तक ही सीमित हो ऐसा नहीं है प्रत्युत इन शास्त्रोंकी व्याख्याओंके उत्तरकालीन इतिहासमें भी अनेकानेक चिन्तकोंने इस अवधारणाको प्रतिपादित किया था. मनुस्मृतिव्याख्या, पतञ्जलिके पाणिनिसूत्रोंपर महाभाष्य, भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके उपनिषद्भाष्य, काश्मीरके श्रीअभिनव गुप्त आदिके प्रत्यभिज्ञा दर्शन आदि अनेकानेक ग्रन्थोंके अन्त:साक्ष्यके आधारपर यह प्रमाणित होता है.

यद्यपि प्रस्तुत आलेखका विषय नहीं है, फिरभी यहां यह उल्लेख कर देना इसलिये आवश्यक लगता है कि आधुनिक कालमें 'संप्रदाय' निन्दार्थक शब्द बन गया है, जबकि प्राचीन कालमें 'संप्रदाय' शब्द आदरणीय विचार या आचार की परम्पराके अर्थमें प्रयुक्त होता था. अतएव श्रीशंकराचार्य १.बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य और २.भगवद्गीतोपनिषद्भाष्य में ''ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्य:'',''तेतु कुतर्कदूषितान्त:करणा:... अनुकम्पनीया: आगमार्थविच्छिन्न-सम्प्रदायबुद्धय:'',''तस्माद् असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेव उपेक्षणीय:'' [२] . संप्रति ऐसी धारणा सर्वमान्य हो पाती हो या न हो पाती हो परन्तु इतना तो निश्चयेन कह सकते हैं कि 'संप्रदाय' शब्दका निन्दाके अर्थमें प्रयोग पहले नहीं होता था. वर्तमान कालमें असंप्रदायवादी संप्रदाय(!)ने अवश्य ही इसे निन्दार्थक बना दिया! वह कथा दूसरी है.

अत: प्राचीन मान्यता ऐसी थी कि पारंपरिक तथ्य या धारणा के बारेमें असांप्रदायिक होना, व्यक्तिकी अविश्वसनीयताका हेतु माना जाता था. अतएव भक्तशिरोमणि मीराँका किसी भी भक्तिसंप्रदायसे जुड़ा नहीं होना, तत्तद् भक्तिसंप्रदायोंकी दार्शनिक विचारधारा या भक्तिसाधनाके प्रणालीके विशेष सन्दर्भमें अनुमोदनीय न भी माना गया हो तो कोई विस्मयजनक बात नहीं. अर्थात् तत्तत् संप्रदायोंने उतने आदरभावसे मीराँको न भी निहारा हो, एतावता मीराँबाईकी परमकाष्ठापन्न श्रीकृष्णभक्तिकी दिव्यताके बारेमें भागवतसंप्रदायके अनुगामीका आपत्ति जताना तो कथमपि युक्त हो ही नहीं सकता. साथ ही साथ ऐसे मतभेदोंको सांप्रदायिक मनोमालिन्य मानना भी एक दूसरा अतिरेक है. यह तो असंप्रदायवादिओंके नूतन संप्रदायकी सांप्रदायिकताके प्रति मनोमालिन्यमूलक एक नूतन सांप्रदायिक(!) अवधारणा है. अन्यथा कितने सारे तत्तद् विशेष संप्रदायके अनुगामी भक्तोंने ही, जो अपने संप्रदायके अनुगामी नहीं थे, ऐसे भक्तोंके भी जो इतिवृत्त संकलित किये थे उसका निहितार्थ हम समझ नहीं पायेंगे! ये इतिवृत्त विसंप्रदायी जनोंको अभक्त मान कर नहीं प्रत्युत भक्त मान कर ही लिखे गये. इस विषयमें अलग-अलग संप्रदायोंके, नामश:, नाभादासजी प्रियदासजी राघवदासजी ब्रह्मदासजी नागरीदासजी दयारामभाई भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदिके ग्रन्थ ही सर्वसन्देहवारक मुखरित प्रमाण हैं. क्योंकि ''भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक, इनके पदवन्दन करे नाशे विघ्न अनेक'' [३] मनोभाव इन सभी इतिवृत्तकरोंका था. अन्यथा श्रीसावंतसिंह नागरीदास भी तो वल्लभ-संप्रदायके भगवत्सेवाकीर्तनपरायण अनन्य भक्त होनेके बावजूद जो ''मेरे येई वेदव्यास श्रीहरिवंशऽरु व्यास गदाधर परमानन्द नन्ददास... तुलसीदास मीरां माधव उभै नागरीदास... श्रुति पुरान मेरे इनके पद हों श्रोता ये वक्ता...'' [४] स्वीकार कर रहे हैं ऐसा कर नहीं पाते. मीराँके साथ वल्लभ-संप्रदायको कोई असूया या स्पर्धा होती तो मीराँबाईको ऐसे कैसे बिरदा सकते थे? भक्तकवि दयारामभाईने भी पुष्टिमार्गके अनन्यभावसे अनुगामी होनेपर भी मीराँबाईका भावपूर्ण चरित्र लिखा. और उसके उपसंहारमें ''चरित्र ए जे मीराँबाईनुं रे जे कोई शीखे सांभळे ने गाय प्रेमे भक्ति तेहने मळे रे व्रुठे दयानो प्रीतम व्रजराय'' [५] अर्थात् मीराँबाईके चरित्रको जो सीखेगा सुनेगा या गायेगा उसे भक्ति मिलेगी और दयारामका प्रियतम व्रजराय उसपर प्रसन्न होगा. यदि वल्लभ-संप्रदायको मीराँबाईके साथ रागद्वेष होता दयारामभाई संप्रदायसे विरुद्ध जा कर ऐसा कहनेका साहस कभी कर ही नहीं सकते थे. इसी तरह ८४ वै.वा.से लेकर उत्तरार्धभक्तमालकार भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रके कालतक रामदासजी और मीराँबाई कलहकी वार्ता वल्लभसंप्रदायमें विस्मृत तो नहीं हुयी थी. ''मीराँबाईकी प्रोहिती रामदासजू तजि दई, हरिगुरु परम अभेदभाव हियेजु रहत सदाई. याहीतें गुरु-कीरति इन हरिसन्मुख गाई, मीराँ भाख्यो हरिचरित्र गावो द्विजराई. सुनि अति कोपे इन जाने नहि वल्लभराई...'' [६] ऐसा भारतेन्दुका कथन ही प्रमाण है.

यह तो कुछ भी नहीं चैतन्यचरितामृतकार कृष्णदास कविराज तो इससे कहीं अधिक अतिमर्याद हो कर महाप्रभु वल्लभाचार्यके बारेमें यद्वा-तद्वा 'कौएके जैसे काले' आदि क्या-क्या अपशब्द नहीं वापरते! फिरभी उस संप्रदायके भक्तोंके चरित्र भी अति-आदरभावसे भारतेन्दुबाबुने गुंफित किये हैं. साथ ही साथ बेझिझकार खुदके उत्तरार्ध भक्तमालके बारेमें यह भी कहते हैं ''नाभाजी महाराजने भक्तमाल रसजाल... ता पाछें अब लों भये जे हरिपदरत संत, तिनके जस सोइ हरि कहं अति कंत... जय वल्लभ-विट्ठल जयति जैजै पिय नंदलाल जिन बिरचि प्रेमगुन गुथी भक्तिकी माल...'' [७] निष्कर्षरूपेण यह कहना चाहूंगा कि एक ही संप्रदाय या दो भिन्न-भिन्न संप्रदायके भक्तोंकी आपसी बोलाचालीमें कभी परस्पर कोई कटुवचनके प्रयोग हों भी गये हों, एतावता वहां सांप्रदायिक असहिष्णुताके ओछे खयाल बांधने नहीं चाहिये. अस्तु.

श्रीमद्भागवत पुराणके सातवें स्कन्धमें युधिष्ठिर-नारद संवादमें यह निसंदिग्धरूपेण स्पष्ट किया गया है कि परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके लिये न कोई अपना और न कोई पराया है, न कोई द्वेष्य और न कोई प्रिय ही होता है. फिरभी जो-जो जैसे भावोंसे उन्हें अनन्य ऐकान्तिक भावसे भजता है, उसके लिये भगवान्का स्वरूप वैसा ही प्रकट हो जाता है. भगवान्के इस ऐसे स्वरूपके विवरणमें निष्कर्षतया ''कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्या ईश्वरे मनः आवेश्य तदघं हित्वा बहवः तद्गतिं गताः... तस्मात् केनापि उपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्''[८] . अर्थात् भागवतके भगवान् श्रीकृष्ण यदि किसी एक भक्तिसंप्रदायमें कैद होते तो, काम द्वेष भय स्नेह आदि किसी भी तरह उनके साथ मन लग जानेपर, जीवके उद्धारार्थ सक्षम माने नहीं जा सकते. अतएव किसी भी संप्रदायने कमसे कम द्वेषवाले मनोभावको भगवत्प्रापिका साधनाके रूपमें मान्य नहीं किया. फिरभी द्वेषभाव द्वारा भगवान् प्राप्त नहीं होते ऐसा कहनेका साहस भी किसी संप्रदायने प्रकट नहीं किया है. केवल श्रीकृष्णके साथ ही कितने सारे भक्तिसंप्रदाय जुड़े हुवे हैं, उनमें परस्पर असहिष्णु मतभेद या वैरभाव भी हो सकते हैं, भीष्म-कर्ण और उन दोनोंको मारना चाहते अर्जुनकी तरह. अर्जुनको परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका ब्रह्मज्ञानियोंके जैसा केवल साक्षात्कार ही अपितु सख्यभाव भी सिद्ध था फिरभी आपसी रागद्वेषसे तो मुक्त नहीं थे. श्रीकृष्ण, किन्तु, दोनों ही विरोधी दलोंके प्रेमास्पद होनेकी दिव्य मोहकता निभाये रखते हैं.

ऐसी स्थितिमें श्रीराम या श्रीशंकर देवी या गणपति आदि के विभिन्न भक्तिसंप्रदायोंको भी जोड़ कर चलें तो उनके पारस्परिक मतभेदोंमें दूसरा कोई मानदण्ड कैसे अपनाया जा सकता है? स्वयं भगवद्गीताके उपदेष्टा जब ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्'' [९] ऐसा विधान करते हों तो कौन श्रीकृष्णभक्त उसे सिद्धान्ततः अस्वीकार कर सकता है. यह ज्ञातव्य तथ्य है कि वल्लभ-संप्रदायमें कृष्णसेवाका ही विधान है फिरभी श्रीरामनवमीके उत्सवमें श्रीतुलसीदासजी श्रीहितहरिवंशजी सूरदास मदनमोहन आदिके भी पद गाये जाते हैं. सांप्रदायिकताकी ऐसी अपनी अनन्यनिष्ठाके साथ दूसरेकी भी खुदके संप्रदायके प्रति अनन्यनिष्ठाके प्रति आदरभाव निभानेकी इस विशेषताको ध्यानमें रखे बिना मीराँ और विभिन्न भक्तिसंप्रदायोंके संबन्धोंका आकलन करनेपर दोनोंके साथ अन्याय हो जाता है, जो कदाचित् दोनोंको ही अनभिप्रेत था. भगवद्गीता द्वारा प्रशंसित स्वधर्मनिष्ठाका सिद्धान्त किसी एक धर्मके सन्दर्भमें न होकर सभीके लिये अपने-अपने धर्मके सन्दर्भमें ही विभिन्न संप्रदायोंको लेना चाहिये ''स्वे-स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'' [१०] न्यायके अनुसार.

अतः वल्लभसंप्रदायके दार्शनिक चिन्तन और धार्मिक साधना की सांप्रदायिक दृष्टिसे भक्तशिरोमणि मीराँका चरित्र या भक्तिभाव अस्वीकार्य या आलोच्य हो, तो भी, भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य मोहक सर्वभावानुसारिताके सन्दर्भमें श्रीकृष्णभक्तिकी उत्कृष्टतम मूर्तिमती अभिव्यक्ति मीराँबाई थी, इसे कोई भी इन्कार नहीं सकता.

वैदिक कर्मकाण्डमें स्वयंके अभीष्ट देवता अग्नि आदित्य सोम प्रजापति इन्द्र वायु अश्विनी आदि अनेकानेक देवताओंकी आराधना प्राय: प्रत्यक्ष अग्निदेवको माध्यम बना कर अनुष्ठित होती थी. वहां भी कहा गया है कि "यस्य वा अयथादेवतम् अग्नि: आधीयते, आ देवताभ्यो वृश्च्यते पापीयान् भवति. यस्य यथादेवतं, न देवताभ्य: आ वृश्च्यते" [११] . यहां कर्मकाण्डीय सन्दर्भमें अन्यदेवोंका आराधन पापकारी माना गया है. इसे, परन्तु, प्राचीन कालमें सांप्रदायिकताके रूपमें कभी निन्दनीय नहीं माना गया.

औपनिषद् ब्रह्मको भी, इसी तरह, सभी देवताओंके मूलरूपतया मान्य रख कर, या तो साक्षात् ब्रह्मका श्रवण मनन निदिध्यासन और अन्तमें साक्षात्कार; अथवा तदर्थ अनेकानेक निजात्मा प्राण आकाश सूर्य आदि आलंबनोंकी ब्रह्मतया उपासनाकी प्रणाली थी. ज्ञानकाण्डमें भी कहा गया है कि "यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म... अतो अन्यद् आर्तम्".[१२] अर्थात् सर्वान्तरात्मा रूपी ब्रह्मके अलावा सभी कुछ आर्त है. इसे भी सांप्रदायिक ब्रह्मवादी विधान नहीं माना गया.

स्वयं कृष्णयजुर्वेदके तैत्तिरीयारण्यक (२।९।१) और छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) में ऐसे वचन मिलते हैं कि ऋक् यजु: साम अथर्व इतिहास पुराण एकायनविद्या देवविद्या ब्रह्मविद्या आदि शास्त्र वेदके स्वाध्यायके अन्तर्गत पठनीय हैं. अत: पौराणिक और तान्त्रिक शास्त्रोंमें किसी एक इष्टदेवकी सर्वोत्कृष्टताकी भावनाके साथ अनन्यभावरूपा पूजा आराधना या भक्ति के हेतु प्रोत्साहनार्थ अन्यदेवोंके चरित्र या सामर्थ्य की अनदेखी कर अपने अभीष्टदेवके आधीनतया उनका निरूपण भी सांप्रदायिक विद्वेषके रूपमें देखनेके बजाय साधनाके आनुषंगिक ही मानना चाहिये. इनमें सांप्रदायिक विद्वेष खोजना असंप्रदायवादके ध्वजवाहकोंकी एक नूतन सांप्रदायिकता(!) लगती है.

महाप्रभु वल्लभाचार्यकी दार्शनिक विचारधारा वेदोपनिषद्के आधारपर शुद्धाद्वैतवादके रूपमें प्रकट हुयी है तो आराधनाप्रणाली भगवद्गीता-भागवतपुराण और एकायन पांचरात्र तंत्रका आधार ले कर प्रवृत्त हुयी है.

महाप्रभुका इस विषयमें यह अभिप्राय है कि किसी भी देवता या उससे जुड़ी आराधनाप्रणालीके सन्दर्भमें प्रतिपादनीय किसी विशेष देवताकी सर्वोत्कृष्टता या इतरकी कुछ अपकृष्टता आराधनार्थ अनिवार्य द्वैतबुद्धिके सन्दर्भमें ही होती है. यह द्वैतबुद्धि पुन: एकमेव अद्वितीय ब्रह्मकी ही अनेकभावापन्न होनेकी लीला है, भक्तिभावकी उद्बोधिका. फलत: भक्तिसंप्रदायोंके प्रभेद या परस्पर विरोधाभास को भी भगवान्की अनेकविध लीलाओंके प्रभेदके रूपमें ही ग्रहण करना चाहिये अन्यथा नहीं. अतएव महाप्रभु वल्लभाचार्यका कहना है :

> "जैसे नेत्र किसी पदार्थके रूपका ही ग्रहण करते हैं, रसना स्वाद ही, नासिका गन्ध ही इसी तरह अनेकविध शास्त्र एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके तत्तद् गुणधर्मोंको प्रमुख बना कर अपने-अपने प्रतिपाद्य गुणधर्मोंवाले ब्रह्मके अनेकविध प्रभेदोंका निरूपण करते हैं. अत: ब्रह्ममें द्वैतका भान होता है. यह भेद या द्वैत पारमार्थिक लीलारूप होनेपर भी ब्रह्मके स्वरूपकी दृष्टिसे स्वाभाविक या मौलिक नहीं. अत: ऐसे भेदको पारमार्थिक मान्य रखनेवाले शास्त्रोंके आधारपर संप्रति विष्णुस्वामी रामानुज और मध्वाचार्य के अनुगामी भिन्न-भिन्न हैं. मेरा मत, जबकि, अभेदप्रतिपादक शास्त्रोंका प्रमुखतया अवलंबन करके चलता है. वैसे तो स्वयं भगवान्ने ही चारों प्रकारके भक्तिमार्गोंका प्रतिपादन किया है"[१३].

अर्थात् भक्तिके इन विभिन्न संप्रदायोंमें विरोधाभासी भेद तो हो सकते हैं परन्तु भगवत्प्रतिपादित होनेके

कारण कोई भी संप्रदाय अप्रामाणिक तो नहीं माना जा सकता. एतावता प्रामाणिक होनेके कारण एक संप्रदाय दूसरे संप्रदायवालेके लिये अनुसरणीय भी नियमेन माना नहीं जा सकता. अन्यदेवोंके आश्रय लिये बिना केवल श्रीकृष्णकी ही अनन्यप्रपत्ति और अनन्यासक्ति के बारेमें महाप्रभु कहते हैं "शास्त्रोंके विधानके अनुसार अनिर्वाय न होनेपर भी स्वत: अन्य किसी देवका भजन या दर्शनार्थ उस देवमन्दिरमें गमन अथवा लौकिक या अलौकिक किसी भी प्रकारकी इच्छापूर्तिके हेतु प्रार्थना रूपी अन्याश्रय नहीं करना चाहिये".[१४] ऐसा अनन्यभाव, जो मीराँमें भी हम पाते हैं, उसपर महाप्रभु अतिशय भार देनेके बावजूद अपने प्राथमिक 'बालबोध'नामक ग्रन्थमें जो विधान करते हैं उसपर भी ध्यान देना चाहिये "अत: शिव भी और विष्णु भी जगत्के हितकारक देवरूप हैं. क्योंकि ब्रह्म ही सर्वात्मक होनेके कारण शैव शास्त्रोंमें शिव और वैष्णव शास्त्रोंमें विष्णु के रूपोंमें बिरदाये गये हैं, किसी भी तरहके दोषसे रहित और दिव्य गुणोंसे भरपूर"[१५] . अतएव वाल्लभ संप्रदायमें शास्त्रीय वैवाहिक विधि-विधानके अनुसरणार्थ गणेशपूजन देवीपूजन आदि किया ही जाता है पर अन्यथा गणेश देवी आदि देवीदेवताओंका पूजन आदि अन्याश्रय माना गया है. इसी तरह तीर्थयात्राके दरम्यान जिस तीर्थका जो अधिष्ठाता देवता हो उसका दर्शन अर्चन अन्याश्रय नहीं होता. अन्यथा अन्याश्रय माना जाता है.[१६]

यह व्यवस्था केवल वाल्लभ संप्रदायकी ही है ऐसा नहीं थोड़े-बहोत हेरफेरके साथ प्राय: अन्य भी संप्रदायोंके बीच सामान्य रही. यदि कोई असंप्रदायवादी इससे सहमत न हो पाता हो तो, वैसी असहमति प्रकट करनेवालेका, हम एक आधुनिक संप्रदाय मान सकते हैं.

(२.सांप्रदायिक इतिवृत्तका सन्दर्भ)

ऐसी स्थितिमें मीराँकी श्रीकृष्णभक्तिकी रीति भी महाप्रभु वल्लभाचार्यको अभिप्रेत भक्तिकी रीतिसे भिन्न या विरोधाभासी हो तो भी किसी तरहके सैद्धान्तिक द्वेष या मात्सर्य का शिकार हो नहीं सकती है, जहां तक सिद्धान्तका प्रश्न है. हां, परन्तु, किसी सिद्धान्तानुगामीका कुछ सांप्रदायिक अनन्यभावके वश मीराँके साथ कुछ विवाद या मतभेद हो जानेकी घटनाको वैयक्तिक माननी चाहिये सांप्रदायिक नहीं. परमभक्त भीष्म पितामहको श्रीकृष्णके साथ स्पर्धाका मनोभाव कहां नहीं था? वल्लभसंप्रदायके अनन्यभक्त कृष्णदासजीका भी वल्लभाचार्यके ही आत्मज गोस्वामी विट्ठलनाथजीके साथ भी विवाद हो गया था! तो मीराँके साथ भी गोविन्द दूबे रामदासजी या कृष्णदास के जो प्रसंग वार्तासाहित्यमें उपलब्ध होते हैं, उनमें जो वैमनस्यता या कुछ कटु बोलाचाली हो गयी, उसे अकारण सांप्रदायिक विद्वेषके रूपमें नहीं देखना चाहिये.[१७]

अतएव संमाननीय श्रीब्रजेन्द्रकुमार सिंहलकी हालमें प्रकाशित 'मेरे तो गिरधरगोपाल' नामक मूलपदावलीके संकलनमें निष्कर्षरूपा टिप्पणिओंसे भी मैं सहमत नहीं हो पाता हूं.

सिंहलजीने १.गोविन्द दूबेवाली वार्ताका प्रसंग २.रामदास पुरोहितकी वार्ताका प्रसंग तथा ३.कृष्णदास शूद्र(!) की वार्ताका प्रसंग यों तीन प्रसंगोपर अपनी कुछ टिप्पणियां दी हैं. स्वयं उनके शब्दोंमें :

> १."मीराँबाई संतोका ही आदरसत्कार नहीं करती थी, भगवद्भक्त मात्रका भी करती थी... किन्तु वैष्णव धर्मानुयायी (वल्लभीय वैष्णव) नहीं थी जिससे आचार्यजीने गोविन्द दूबेको अपने-पास बुला लिया कि कहीं वह मीराँबाईके रंगमें रंग कर वल्लभधर्मसे विमुख न हो जाये. एक ओर भगवद्भक्तोंका हृदयसे सत्कार होता है तो दूसरी ओर अमर्षमय भावनाका प्राबल्य है.

२.रामदासप्रसंग : सो रामदासजी श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके पद गावत हुते तब मीराँबाई बोली जो दूसरो पद श्रीठाकुरजीको गावो. तब रामदासजीने कह्यो मीराँबाईसों जो अरे दारी रांड यह कौनको पद है? यह कहा तेरे खसमको मूंड है... (इसपर सिंहलजीकी टिप्पणी : मीराँबाईने कोई अन्य पद गानेके लिये कहा जिसे रामदासजीने अपने गुरुकी हेठी समझी और मीराँको 'दारी रांड' - व्रजभाषामें 'दारी रांड' का तात्पर्य व्यभिचारिणी स्त्री होता है) अपशब्द कहते हुवे वल्लभाचार्यकी शरणमें चले गए. मीराँने इन्हें रोकने व समझाने का पूरा प्रयत्न किया किन्तु ये सम्प्रदायवादके मोहमें इतने आबद्ध थे कि इन्होंने मीराँकी वास्तविक भावनाको न समझा... मीराँबाई न कभी वल्लभाचार्य या उनके पुत्रादि से मिली और न उनके प्रति उसके हृदयमें कोई गुरुभाव ही था... एक महत्त्वपूर्ण बात और जो ब्राह्मण किसीकी दी हुई जागीर भोगते थे वे प्राय: मिष्टभाषी हुआ करते थे. उनमें रामदासजी जैसी उद्धत भावना और भाषा का प्रभाव नहीं देखा जाता था. इससे भी यही सिद्ध होता है कि मीराँबाईके रामदास नामक पुरोहित ही नहीं थे.

३.आपसी रागद्वेषकी यह पराकाष्ठा थी तत्कालीन भक्तोंमें जो यह दम भरते थे कि हमें कृष्णकन्हैयाके अनवरत प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं. विचारणीय बात है, परमात्मप्राप्ति हो जानेपर राग-द्वेष-अमर्षादि दुर्गुण हृदयसे निकल भागते हैं क्योंकि हृदय परमात्माका निवास हो जाता है... कृष्णदासजी कहते हैं, मैंने भेंट इसलिए स्वीकार नहीं की है क्योंकि तुम श्रीवल्लभ-संप्रदायमें दीक्षित नहीं हो..."[१८].

वैसे प्रस्तुत आलेखका प्रतिपाद्य वल्लभसंप्रदायपर विभिन्न दृष्टिकोणवश किये गये आक्षेपोंका समाधान या प्रत्यालोचन नहीं है, फिरभी इन्हें प्राचीन संप्रदायोंकी आस्था और आधुनिक असंप्रदायवादिओंकी आस्थाके तुलनात्मक विमर्श द्वारा मीराँबाई और वाल्लभ संप्रदाय के पारस्परिक तारतम्यका स्पष्टीकरण मात्र देना हमारा प्रयोजन है. अस्तु.

१.मीराँबाई और गोविन्ददूबे के प्रसंगमें यह स्पष्टीकरण देना चाहूंगा कि मीराँबाईकी भावना संतोंका ही नहीं प्रत्युत सांप्रदायिक भेदभावके बिना सभी भक्तोंके आदरसन्मान करनेकी जो रीति थी वह उनकी आस्था निश्चय ही प्रशंसनीय है. फिरभी सिंहलजी द्वारा उद्धृत प्रसंग यह तुलनीय बन जाता है "पहले भोजराजसे कुलदेवीकी पूजा कराई तत्पश्चात् मीराँबाईसे पूजन करनेको कहा. मीराँने पूजन करनेसे निषेध कर दिया. उसका सीधा उत्तर था 'हाथीपर चढ़ कर अब गधेपर नहीं चढूंगी'[१९]. सिसोदियाओंकी कुलपरंपराके विपरीत कितना अमर्ष! इसके विपरीत हमारे वल्लभसंप्रदायमें शास्त्रीय विधि-विधानोंको हमारे भजनीय भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञारूप माननेका सिद्धान्त होनेके कारण उनके प्रति हमारी अनन्यासक्तिके वश ही शास्त्रविहित कर्मोंके अन्तर्गत अन्यदेवार्चनको अन्याश्रय नहीं मानते. यह प्राचीन वैदिक परंपरासे प्राप्त आदर्श था "महाभाग्याद् देवताया: एकएव आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्य आत्मनो अन्ये देवा: प्रत्यंगानि भवन्ति, अपिच सत्त्वानां प्रकृतिभूमिभि: ऋषय: स्तुवन्ति, प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च." [२०] अर्थात् एक किसी परमात्माकी ही किसी महाभाग्यवाले देवताके रूपमें स्तुति की जाती है, सो अन्य सारे देवता उस परम आत्माके अंग-प्रत्यंगरूप माने जाते हैं. वैसे ऋषिगण यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठानमें किसी देवताकी स्तुति जब करते हैं तो उस देवका रूप धारण करनेवाले परमात्माकी ही स्तुति करना चाहते हैं. क्योंकि वह परमात्मा जो सभी देवताओंकी प्रकृति=मूलतत्त्व है सो सारे देवनाम भी उसीके ही हैं. अत: ऐसी आर्षभावनाका समादर करते हुवे वाल्लभ संप्रदायमें अन्यान्य देवी-देवताओंके बारेमें मीराँबाई द्वारा प्रयुक्त 'गधा' जैसे अपशब्दका प्रयोग अपने इष्टदेवके अनादरके समान माना जाता है. यदि परमात्माके हृदयमें निवास करनेके कारण जब संतो-भक्तोंका संमान भेदभावके बिना कर्तव्य लगता हो तो अलौकिक देवताओंके प्रति ऐसे अमर्षका औचित्य क्या हो सकता है?

यहां यह और उल्लेखनीय है कि ठीक ऐसे ही आशयका श्लोक गोस्वामी विट्ठलनाथजीने भी गोविन्ददूबेको लिख भेजा था "भगवत्पदपद्मपरागजुषाम् नहि युक्ततरं मरणेऽपि तराम् इतराश्रयणं गजराजगतो नहि रासभमपि उररीकुरुते"[२१] . अब मीराँबाईके लिये यह कृष्णभक्तिकी अनन्यताके भावावेशवश निकला उद्‌गार हो और सांप्रदायिक मनोमालिन्य न माना जाता हो तो, वही बात वल्लभसंप्रदायके विट्ठलनाथजीके वचनमें सांप्रदायिक अमर्ष कैसे बन सकती है ?

२.दूसरे प्रसंगके बारेमें यह बात उल्लेखनीय है कि मीराँबाईके हृदयमें भी तो अपने किसी बाह्य गुरु अथवा भावात्मक गुरु के बारेमें अनन्यभाव सुदृढ़ था ही. स्वयं उनके शब्दोंमें "म्हारा सतगुरु संग सुख पाती... सतगुरु मिल्या सौंज सब पाई जैसा है ब्रह्मवासी सुगरा सूरा इंम्रत पीवे नुगरा नरकाँ जासी. धन सतगुरु मेरा सिरपर राजे... नातर भौ में जाती"[२२] तो यह तो औपनिषदिक परंपरा हमारी रही है कि "यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ"[२३]. अतः रामदासजीका भी अपने गुरुके बारेमें भक्तशिरोमणि मीराँ जैसा कि हाथीपर सवारी करके गधेपर सवारी नहीं करनेका जो अनन्यभाव था जिसके कारण उन्हें गुरुका पद श्रीकृष्णका ही पद लग रहा है. इसमें सांप्रदायिक अमर्ष खोजनेके बजाय उभयत्र अनन्य श्रद्धाभाव क्यों नहीं खोजना चाहिये ? जहांतक गालीगलौचका मुद्दा है तो व्रजप्रदेशके या बनारस आदिके लोगोंमें राजस्थान जैसी विनम्र भाषाका बोलनेका रिवाज ही नहीं. वहां तो बात-बातमें किसी भी दुराशयके बिना गाली मूंहसे निकलती ही रहती है आदतन. हमारे यहां घरेलु नोकरीमें प्रायः व्रजवासी ही रखे जाते हैं और मैंने अपने कानोंसे उन सगी माताओंको अपने बेटेको 'दारीके' (दारीकी औलाद) गाली देते बहुधा सुना है. वैसे ज्ञानमंडल वाराणसीके 'ज्ञानशब्दकोश'में 'दारी' शब्दका, स्वामी हरिदासजीके व्रजभाषाके पदके आधारपर आनुमानिक ही, अर्थ कुलटा नारी अवश्य लिया है. व्रजभाषाके, परन्तु, डॉ.प्रेमनारायण शुक्ल तथा चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद-डॉ.विद्यानिवासजी द्वारा संकलित कोशमें 'दारी' का अर्थ (दारिका) युद्धमें जीत कर लाई गयी दासी, उदा."नागरिया केवल भक्तन इह दारी दूर निकारी"[२४] देते हैं. इसी तरह 'रांड' शब्दका अर्थ भी इन दोनोंके अनुसार (सं.रंडा) विधवा ही माना गया है. पता नहीं किस आधारपर सिंहलजीने व्रजभाषामें 'दारीरांड' शब्दका सुनिश्चितार्थ व्यभिचारिणी स्त्री ही होता है ऐसा खोज निकाला. इस पूरे प्रसंगको, केवल इसी अनिर्धारित आधारपर, कल्पित भी सिद्ध करनेकी युक्ति दी है. परन्तु मीराँबाईपर सर्वांगीण और ठोस गवेषणा करनेवाले डॉ.प्रभातने इन रामदासजीके परिवारवालोंका आंबेरके जगत् शिरोमणिजीके मंदिरके देवाजीके वंशज पूजारीजीके साक्ष्यपर ऐतिहासिकताके प्रमाण प्रस्तुत किये ही हैं[२५]. अकारण इन्हें झुठलानेका कोई सबल प्रमाण सिंहलजी दे नहीं पाये.

३.कृष्णदासजीकी वार्ताके अन्तर्गत मीराँबाईकी भेंट न स्वीकारनेके प्रसंगमें यह स्पष्टीकरण आवश्यक लगता है कि यह नियम महाप्रभु वल्लभाचार्य स्वयं निभाते थे, सहज संभव है उस नियमके अनुवर्तनमें कृष्णदासजीके मुखसे यह बात अनुचित सन्दर्भमें निकल गयी होगी. वह तो वार्ताकार भी उनके ऐसे स्वभावका लागलपेट बिना उल्लेख कर देते हैं. अतः दूसरे संप्रदायोंको अपनी हेठी लगती हो यह सहज संभव है. मूलमें, परन्तु, महाप्रभु वल्लभाचार्यका इस नियमके पालनमें आग्रहिल होना औपनिषदिक आदर्श ही था, दूसरे किसीको नीचे दिखानेका नहीं. जैसा कि "हस्त्यृषभं सहस्रं ददामि इति ह उवाच जनको वैदहः. स ह उवाच याज्ञवल्क्यः पिता मे अमन्यत न अननुशिष्य (वित्तं) हरेत इति"[२६] इस वचनमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि शिष्यके अलावा, उपदेशवृत्तिसे जीनेवालेको, दूसरेका वित्तका हरण नहीं करना चाहिये. यह ऐसा महाप्रभुका धर्म्य आग्रह ८४ वै.वा.में अनेक बार दोहराया गया है. वल्लभसंप्रदायके दुर्भाग्यवश आधुनिक हम महाप्रभुके वंशज इस नियमको तोड़नेमें अपना परम पुरुषार्थ मानने लगे हैं, वह कथा दूसरी है. ठीक है कोई अपने हृदयग्राही आदर्श नियमोंको पालना न चाहे तो न पाले. कथमपि महाप्रभुका आशय खुदको अति विरक्त दिखाना नहीं था, केवल महर्षि याज्ञवल्क्यके आदर्शका अनुकरण था. एतदर्थ हमारे संप्रदायमें एक स्वतंत्र ग्रन्थ गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने

लिखा है. परद्रव्यके प्रतिग्रहमें संयम बरतनेकी यह भागवतविहित आदर्श रीति थी.

महाप्रभु श्रीकृष्णभक्तिकी जो सर्वोत्कृष्टता तथा सर्वोद्धारकता मान्य करते हैं, उसकी प्राथमिक आवश्यकताके निरूपणमें भी यह कहना भूले नहीं हैं कि -

> अद्‌भुतकर्मा श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव सुसाधन नि:साधन या दुष्टसाधन सभी तरहके जीवोंके उद्धारार्थ है. अत: जो उद्धारार्थ शास्त्रविहित साधन न हों ऐसी बातोंको भी भगवान् किसी जीवके उद्‌धारका साधन बना सकते हैं. कलियुगमें भागवतपुराण भी, अतएव, द्वापरयुगमें प्रकटे श्रीकृष्णका नामात्मक प्रादुर्भाव ही है. अत: सर्वप्रथम ऐसा गुरु खोजना चाहिये जो श्रीमद्‌भागवतका तत्त्वज्ञ हो, दूसरे श्रीकृष्णसेवामें स्वयं परायण हो; और, तीसरे यह जो वह स्वयंके लाभपूजा बढ़ानेको दंभलोभ आदि दुर्गुणोंके कारण केवल दिखावाके लिये भगवत्सेवा न करता हो. ऐसे उस गुरुके उपदेशका अनुसरण कर कृष्णसेवामें तत्पर हो जाना चाहिये. ऐसा गुरु न मिलता हो तो भी स्वयं ही श्रीकृष्णकी जो मूर्ति प्रिय लगती हो उसकी सेवा-आराधनामें अनन्यभावसे प्रवृत्त हो ही जाना चाहिये''.[२७]

ऐसी स्थितिमें मीराँबाई, यदि किसी सांप्रदायिक गुरुको अपना गुरु माने बिना भी स्वत: श्रीकृष्णकी गिरिधरगोपालकी मूर्तिकी सेवामें जो बाल्यकालसे ही प्रवृत्त थी और बादमें बाह्यतया न भी रह पायी. सदैव, परन्तु, श्रीकृष्णकी मानसमूर्तिके बारेमें विरहभावमें संतप्त रही थी. इसे ध्यानमें रखनेपर वाल्लभ सिद्धान्तके दृष्टिकोणसे कुछ भी आपत्तिजनक तो माना नहीं जा सकता. प्रत्युत स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्यके शब्दोंमें ''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता''[२८] वचनके अनुसार मीराँबाई तो आजीवन परा भक्तिमें मग्न बन गयी थी. वल्लभसंप्रदायकी दीक्षाके मंत्रमें भी श्रीकृष्णके विरहभावनाका ही संदेश-उपदेश विवक्षित रहता है. सो तो मीराँबाईमें मूर्तिमान अभिलक्षित होता है.

यहां यह खुलासा कर देना उचित होगा कि मीराँबाईको तत्कालीन पुष्टिमार्गके अनुगामिओंने ही जब पुष्टिमार्गीय नहीं माना तो आधुनिक किसी लेखककी वैसी धारणा, वाल्लभ संप्रदायका मत कैसे माना जा सकता है? भक्तमालकार राघवदासजी भी अतएव वाल्लभ संप्रदायकी नहीं किन्तु महाप्रभु वल्लभाचार्य और मीराँबाई दोनोंको श्रीविष्णुस्वामीके संप्रदायमें अन्तर्गत मान्य करते हैं[२९]. सिंहलजी द्वारा संकलित पदोंमें ऐसे आशयका पद भी मीराँबाईका मिलता है परन्तु प्रामाणिकता सन्दिग्ध होनेसे मौन ही अवलंबनीय लगता है. दोनोंकी कृष्णभक्तिकी आराधनाप्रणालीके सादृश्यके कारण या अन्य किसी ऐतिहासिक या जनश्रुति के हेतुवश इस विषयमें वाल्लभ संप्रदायके अनुगामी होनेके कारण भी मौनसेवन ही उचित मानता हुं.

वैसे कई चैतन्यमतानुगामिओंकी धारणाके अनुसार श्रीविष्णुस्वामी शुद्धाद्वैतवादी थे. तीर्थपुरोहितोंके पास प्राप्त होते महाप्रभुके हस्ताक्षरके अकाट्य प्रमाणके आधारपर महाप्रभु वल्लभाचार्य कुलपरंपरासे श्रीविष्णुस्वामिसंप्रदायके अनुगामी थे. न केवल इतना अपितु तत्त्वार्थदीपनिबन्धकी इतिश्री ''इति श्रीकृष्णव्यासविष्णुस्वामिमतवर्तिश्रीवल्लभदीक्षितविरचिते शास्त्रार्थकथनं प्रथमं प्रकरणम्''[३०] के अन्त:साक्ष्यके आधारपर भी यह तो सिद्ध होता ही है. इससे यह भ्रान्ति पनप सकती है कि जब सर्वप्रथम ग्रन्थमें प्रतिपादित शुद्धाद्वैतवाद महाप्रभुको विष्णुस्वामिमत कुलपरंपरा द्वारा मान्य होनेसे श्रीविष्णुस्वामी भी शुद्धाद्वैतवादी होंगे. परन्तु उपर्युद्धृत श्रीमद्‌भागवतकी तृतीयस्कन्धकी सुबोधिनीके वचनके विचार करनेपर यह बारीकी खुल कर सामने आती है कि स्वयं महाप्रभुके अनुसार भी महाप्रभु जिस 'निर्गुणा पुष्टिभक्ति'नामक मार्गका प्रवर्तन करना चाहते हैं, वह श्रीविष्णुस्वामीके संप्रदायद्वारा प्राप्त नहीं थी. महाप्रभुके अधिदेववाद(थियोलोजी)में शरणागति-समर्पण और भक्ति तीनोंमें अभेदवादपर भार होनेके कारण ही इन साधनाओंको 'पुष्टिप्रपत्ति'-'पुष्टिभक्ति' कहते हैं. अर्थात् भगवान् स्वयं अपने जिस चिदंश रूपी जीवात्माको निजस्वरूपसे आकृष्ट कर अपनी शरणमें लेकर उसे स्वयंके प्रति सर्वात्मना समर्पित बना कर निरुपाधिक भक्तिभावसे भर देते हों वह पुष्टिमार्गीय हो पाता है. ऐसा भक्त भगवान्‌के साथ परलोकमें सालोक्य सारूप्य सार्ष्टि या

सायुज्य रूपी मोक्षोंकी चाहनासे भी मुक्त हो कर भूतलपर भगवत्सेवा-कथामें तल्लीन हो पाता है. ऐसोंको शुद्ध पुष्टिभक्त माना जाता है. परन्तु जिनमें ऐसा भाव शास्त्रोंके श्रवण, गुरूपदेश या सत्संग आदिके कारण पनपता हो उन्हें मर्यादामिश्र पुष्टिभक्त माना जाता है. मुक्तिकामनासे शास्त्रोक्त विधिविधानोके अनुसार भक्ति करनेवालेको मर्यादाभक्त माना जाता है. लौकिक कामनाओंकी पूर्तिके हेतु भगवद्भजन करनेवाले प्रावाहिकी भक्ति करनेवाले माने जाते हैं. और लाभपूजार्थ भक्ति करनेवालोंकी भक्ति भक्ति ही नहीं होती जैसी कि वाल्लभ संप्रदायके दुर्भाग्यवश आधुनिक वल्लभाचार्यके पुष्टिमार्गके नामसे चलते व्यावसायिक भक्तिभावके प्रदर्शनार्थ चलते भगवन्मन्दिरोंमें पायी जाती है. अस्तु इस अद्वैतभावके धरातलपर भगवत्सेवामें तो पुनः सेव्यसेवकभावका भेद तो लीलारसात्मक आवश्यक ही माना गया है.

अतएव संमाननीय श्रीसिंहलजीके मीराँबाईके वेदान्तोंके विविध प्रकारभेदोंमें अद्वैतवेदान्ती होनेका विचार भी स्वीकार्य नहीं लगता है. सिंहलजीके स्वयंके शब्दोंमें ''जिन्होंने द्वैत शुद्धाद्वैत द्वैताद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि मानें हैं जगत्को स्वप्नवत् नहीं कहा है मायाको झूठी नहीं कहा है... और यही कारण है कि जो मीराँबाईपर संतमतका प्रभाव सिद्ध करता है. निर्गुणी संतोंने इस समस्याका बड़ा ही सुन्दर समाधान निकाला है जो भास्कराचार्यके द्वैताद्वैतवादका परिष्कृत रूप है. संत वैचारिक दृष्टिसे अपने-आपको सर्वथा अद्वैत वेदान्ती मानते हैं किन्तु साधनापक्षमें द्वैतवादी''[३१] सर्वप्रथम तो भास्कराचार्यके वेदान्तमें पारमार्थिक अद्वैत और उपासनार्थ मायिक द्वैत ऐसा द्वैताद्वैतवादी मत नहीं है. द्रष्टव्य : ''परमात्मा स्वयंको जगद्रूपेण परिणत करता है... अतः निर्मूल बौद्धोंके महायानियोंका मायावादको स्वीकारनेवाले लोकमें व्यामोह फैलाना चाहते हैं''[३२] भास्कराचार्यका यह वचन सावधानीके साथ मननीय है.

अद्वैतवेदान्तके बारेमें भी यह नितान्त ज्ञातव्य तथ्य है कि यह मत जगत्को ही केवल मिथ्या नहीं मानता प्रत्युत अवतार तथा जगत्कर्ता ईश्वररूप को भी मिथ्या एवं मायिक मानता है. अतएव भास्कराचार्यको भी ''यदा यदा हि धर्मस्य... संभवामि आत्ममायया'' इस भगवद्गीताकी व्याख्यामें यह खुलासा देना पड़ा है कि ''सम्भवामि आत्ममायया, 'माया'शब्दः प्रज्ञावचनः स्वेच्छया इति अर्थः''[३३]. अतएव जिस अवतीर्ण श्रीकृष्णके साथ मीराँबाई भक्तिभावके आवेशमें ऐक्यभावापन्न हो गयी ऐसा सिंहलजी स्वीकारते हैं, ऐसे श्रीकृष्णको मीराँबाई स्वप्नवत् मिथ्या मानती तो ऐक्यभावापन्न हो ही नहीं पाती[३४]. अद्वैतवेदान्त केवल ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'' सूत्रमें पूर्णरूपेण संपिण्डित नहीं हो जाता प्रत्युत ''प्रपंचो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवद्. यद्यद् दृश्यं तत्तन्मिथ्या'' भी उसका फलितार्थ है. और हम अच्छी तरहसे जानते हैं कि पुष्टिमार्गीय सूरदासजीकी अंखिया जैसे ''हरिदरसनकी प्यासी'' थी वैसे ही मीराँबाईकी भी ''अंखियां कृष्णमिलनकी प्यासी'' थी. और उस श्रीकृष्णको यदि मीराँबाई स्वप्नवत् मिथ्या मानती होती तो निश्चय ही ऐसे कृष्णके दर्शन-मिलनसे भी विरक्त हो कर ज्ञानमार्गपर अग्रसर हो जाना ही उनके लिये उचित होता.

वेदान्तके विभिन्न प्रस्थानोंका भलीभांति अध्ययन करनेवालोंसे यह तारतम्य तो छिपा हुवा नहीं होता. अतएव महाप्रभु वल्लभाचार्यने भी इस तरहकी भ्रान्तिके निवारणार्थ कहा है कि संसार और प्रपंच के प्रभेदको समझे बिना कई लोग मोहित हो जाते हैं. वस्तुतः जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्मात्मक हैं, पर अविद्याके कारण एकमेव अद्वितीय ब्रह्मरूप प्रतीत होनेके बजाय ब्रह्मसे ये दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं. इसे संसार समझना चाहिये. मुझे लगता है मीराँबाई यही बात ''दरस बिना म्हांने कछू न भावे जगमाया या सुपना री''[३५] अतः वाल्लभ वेदान्तके अनुसार 'जगमाया'का अर्थ जगत्के बारेमें मोहममता भी हो सकता है. महाप्रभु भी तत्त्वदीपनिबन्धमें कहते हैं ''मैं इस कर्मका कर्ता हूं इससे प्रकट होनेवाला फल मेरे उपभोगार्थ है' ऐसा खुदके बारेमें सोच तथा खुदके देहद्वारा संपन्न होती क्रिया और तज्जनित फल तीनोंमें ब्रह्मलीला दिखलायी न देती हो तो, वह तो हमारी भ्रान्ति है जो ब्रह्मज्ञान सिद्ध होनेपर ही दूर हो पाती है. इसे अहन्ता-ममतारूप संसार समझना चाहिये पांचभौतिक जगत् नहीं''[३६] . यों सिंहलजीका मीराँकी दार्शनिक धारणाके बारेमें अनुमान कुछ निर्बल लगता है.

कतिपय पद मीराँबाईके सूरदासजी और परमानन्ददासजी के पदोंकी भावानुकृति ही नहीं अपितु शब्दानुकृतिके रूपमें भी मीराँबाईके मिलते हैं यथा परमानन्ददासजीके तथा सूरदासजीके नाम्ना कुछ प्रसिद्ध पद:

मैं अपनो मन हरिसों जोर्यो हरिसों जोर सबनसों तोर्यो. नाच नच्यो तब घूंघट कैसो लोकलाज डर पटक पिछोर्यो... परमानन्दप्रभु लोग हसन दे लोकवेद तिनका जो तोर्यो.

कब देखोगे मेरी ओर नागर नन्दकिशोर बिनती करत भयो भोर. हम चितवत तुम चितवत नाहीं मेरे करम कठोर. जनम-जनमकी दासी तिहारी तापर इतनो जोर, सूरदास प्रभु तुम्हारे रोमपर वारों कंचन खोर[३७]

इन पदोंके शब्द और भाव दोनोंका ही अनुकरण मीराँबाईके इन पदोंमें मिलता है:

नन्दनन्दनसूं मन मान्यो मेरो कहा करेगो कोय री... पिता रिसाय माता घरि मारे हंसे बटाऊ लोगरी. अब तो जिय ऐसी बनि आई विधना रची सो होयरी. अरि जे मेरो यह लोक जात है वह परलोक जिन जायरी. पिय अपनेकूं तऊ न छाडुं मिलूं निसान बजायरी. बहुरि कहां यह तन धर पैहो बालम भये मुरारी. मीराँके प्रभु गिरिधर ऊपर सरवस डारूं वारी''

तणक हरि चितवां म्हारी ओर. हम चितवां थे चितवों णा हरि हिवड़ो बड़ो कठोर. म्हारी आसा चितवण थारी ओर णा दूजां दोर ऊभ्यां ठाडी अरज करूं छूं करतां करतां भोर. मीराँरे प्रभु हरि अविणासी देश्यूं प्राण अंकोर[३८].

ऐसे अन्य भी कुछ पद हैं, जो निश्चित रूपसे मीराँबाईके साथ किसी न किसी तरह सूरदास आदि पुष्टिमार्गीय भक्तकवियोंके प्रभावी संपर्ककी गवाही देते हैं. कुछ पदोंकी तुलना तो स्वयं सिंहलजीने भी स्वयंके लेखनमें दी ही है. इन पदोंके सारूप्यका विमर्श करनेपर भी यह निष्कर्ष तो नहीं निकाला जा सकता कि वे पुष्टिमार्गमें दीक्षित थी. स्वयं पुष्टिमार्गीय इतिवृत्तोंसे विपरीत धारणा होनेके कारण. फिरभी इनमें लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यही है कि महाप्रभुद्वारा दीक्षित सूरदासजी तथा परमानन्ददासजी के पदोंका ऐसा साम्य पाते हैं परन्तु गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी द्वारा दीक्षित भक्तकवियोंके द्वारा रचित पदोंका नहीं. यह जो साम्य मिलता है उसे आकस्मिक भी माना नहीं जा सकता अत्यधिक सारूप्यके कारण ही. हां, यह अवश्य सोचा जा सकता है कि बादमें किसी मीराँबाईके भक्तने पुष्टिमार्गीय पदोंमें थोड़े-बहोत हेरफेरके साथ मीराँबाईकी छाप लगाकर प्रक्षेप कर दिया हो. अथवा मूलमें मीराँबाईके ही ये पद रहे हों और बादमें किसी पुष्टिमार्गीयने उनमें नाम बदल कर पुष्टिमार्गमें उन्हें प्रचारित कर दिया हो. यह तो प्राचीन पोथिओंके तुलनात्मक पाठोंके विमर्शके बिना सुनिर्धारित हो पाना निष्पक्षतया तो अशक्य ही लगता है. इन दोनोंमें संभावनाओंमें से जो भी तथ्यभूत हो. दोनों ही में इतना तो सुनिश्चिततया कहा जा सकता है कि मीराँबाईके प्रति वाल्लभ संप्रदायको सांप्रदायिक अमर्ष असूया अथवा रागद्वेष होता तो पदोंके ऐसे सारूप्यकी हकीकत शक्य न रह जाती. न तो मीराँबाईकी रचनाधर्मितामें कोई न्यूनता स्वीकारी जा सकती है और न वाल्लभ संप्रदायमें किसी तरहके श्रेष्ठ भक्तकवियोंका टोटा था कि मीराँबाईके भाव और शब्दप्रयोगों को चुरानेकी जरूरत पड़ती. मुझे भलीभांति ज्ञात है आधुनिक अकादमीक अंचलमें हालमें कुछ ऐसी मनोवृत्ति उभरी है कि यदि कोई भक्तकवि श्रेष्ठकक्षा हो तो उसे वाल्लभ संप्रदायका न मान कर संप्रदायसे बहिर्भूत सिद्ध करो. ऐसा प्रत्यक्षमें भी एक महानुभावने मुझे अपनी योजनाकी बात कबूली थी, तदनुरूप निबंध भी प्रायोजित प्रकाशित किये गये हैं. मेरा, परन्तु, इस विषयमें यही मन्तव्य है कि मान लो यह ऐतिहासिक तथ्य हो परन्तु जिन सूरदासजी या परमानन्ददासजी जैसे महान् भक्तकवियोंको पुष्टिमार्ग अपने मानता है तो उनके पदोंका गायन अपनी आराधनाप्रणालीमें समाविष्ट भी किया है हम तो उन्हें अपना ही मानते आये थे मान रहे हैं और मानते रहेंगे ही. इसी तरह न तो हमारी सेवाप्रणालीमें भक्तशिरोमणि मीराँबाईके पदोंको समायोजित किया गया है और न वल्लभसंप्रदायने ऐसा कभी दावा किया कि वे इस संप्रदायमें दीक्षित थी. न उनके प्रति सांप्रदायिक अमर्ष असूया या

स्पर्धा का भाव संप्रदायके सिद्धान्तोंके परिप्रेक्ष्यमें अनुमोदनीय हो सकता है. सांप्रदायिक किसी तत्कालीन या आधुनिक व्यक्तिके वैसे मनोभावोंका उत्तरदायित्व संप्रदाय नहीं ले सकता.

अन्तमें ऐसे भाव मूलमें यदि मीराँबाईके ही हों तो ऐसी भक्तशिरोमणिके प्रति पुष्टिमार्गको सांप्रदायिक विद्वेष होनेकी कथा तो नितान्त बचकानी ही लगती है. उतनी ही कि जितनी मीराँबाईको पुष्टिमार्गमें जबरदस्ती खींचनेका मोह.

मीराँबाई भूतलपर पुष्टिमार्गके अनन्याराध्य व्रजराज श्रीकृष्णको खोजती होंगी, पर मूलमें तो परब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वयं ही मीराँबाई जैसे भक्तोंको सदा खोजते रहे थे, रहते हैं; और रहेंगे ही. ''यह परमात्मा न तो वेदादि शास्त्रोंके ऊपर प्रवचन करनेवालेको और किसी बहुश्रुतको ही मिलता है. वह जिसे मिलना चाहे उसे ही मिलता है. उसीके सम्मुख यह सर्वत्र निगूढ़ तत्त्व स्वयंके रहस्यको अनावृत करता है''[३९]

----------*----------

उद्धरणसन्दर्भ

१. महाप्रभु वल्लभाचार्य विरचित तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १०४.
२. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य १।१।१, २।१।१ २.भगवद्गीतोपनिषद्भाष्य १३।२.
३. नाभादासकृत भक्तमालका मंगलाचरण.
४. पदप्रबोधमाला १.
५. दयाराम रसधारा २।१ मीराँचारित्र.
६. उत्तरार्धभक्तमाल
७. उत्तरार्धभक्तमाल ३८-१९६.
८. भागवतपुराण ७।१।२९-३१
९. भगवद्गीता ४।११.
१०.भगवद्गीता.
११.तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।४।८.
१२.बृहदारण्यकोपनिषद् ३।४।२.
१३.भागवतसुबोधिनी ३।३२।३३-३७.
१४.विवेकधैर्याश्रय १४.
१५.श्लो.११-१३,
१६.द्रष्ट.साधनदीपिका ६८.
१७.द्रष्ट.डॉ.श्रीप्रभातकृत 'मीराँबाई' पृ.१९६-१९८.
१८.श्रीब्रजेन्द्रकुमारकृत 'मेरे तो गिरधर गोपाल' पृ.११२-११३.
१९.'मेरे तो गिरधर गोपाल' पृ.५७.
२०.निरुक्त ७।१।४.
२१.८४ वैष्णववार्ता ३४।३.
२२.'मेरे तो गिरधर गोपाल' पृ.४२९.
२३.श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।२३.
२४.द्रष्ट. खंड १ पृष्ठ ८४२, खंड २ पृष्ठ २५२.
२५.द्रष्ट. मीराँबाई शोधप्रबन्ध पृष्ठ १९५-१९६.
२६.बृहदारण्यकोपनिषद् ४।१।२.
२७.सप्रकाश तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।१ तथा २।२२६-२२८ का सारांश.
२८.सिद्धान्तमुक्तावली २.

२९.द्रष्ट.भक्तमाल मूल १९७-२१५ टीका १९७-२७९.

३०.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १०४.

३१.'मेरे तो गिरधरगोपाल' पृ.३४९.

३२.भास्करभाष्य २।४।२५.

३३.भगवद्गीता भास्करभाष्य ४।६.

३४.''ईशितव्य अनपेक्ष्य न ईश्वरो न ईशितव्यम् अपि तद्वद् ईश्वरम्,
अन्तरेण घटते ततो मृषा मोहमात्रपरिकल्पितं द्वयम्''. द्रष्ट.संक्षेपशारीरकम् ३।१८८.

३५.'मेरे तो गिरधर गोपाल' पृ.३४८.

३६.तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश १।२३.

३७.परमानन्दसागर पदसंख्या ४५२.

३८.'मेरे तो गिरधर गोपाल'पृ.३७७, ४०५.

३९.कठोपनिषद् १।२।२३.

गोस्वामी श्याम मनोहर, ६३, स्वस्तिक सोसायटी. ४था रस्ता, जुहुस्कीम, पारले, मुंबई. ४०००५६.